International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI)
ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714
www.ijhssi.org ||Volume 12 Issue 9 || September 2023 || PP. 271-273

औपनिवेशिक कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की मूल रूपरेखा : एक ऐतिहासिक अध्ययन

बमबम कुमार
शोध छात्र, इतिहास विभाग, बी.एन.एम.यू. मधेपुरा ,बिहार

सार

ब्रिटेन के आर्थिक हितों को पूर्ण रक्षा प्रदान करने वाला व्यापार, उसके अनुकूल आयात–निर्यात व्यवस्था और कर–व्यवस्था, ब्रिटेन के उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भारत में कच्चे माल का उत्पादन और कृषि का व्यापारीकरण, रेल तथा यातायात के अन्य साधनों द्वारा ब्रिटेन की मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं को सम्पूर्ण भारत और उसके गाँवों तक पहुँचाये जाने की व्यवस्था द्वारा व्यापार की प्रगति आदि ऐसे साधन थे जिनके माध्यम से भारत का धन ब्रिटेन जाता था। परन्तु इनके अतिरिक्त भी अन्य ऐसे साधन थे जिनके द्वारा भारत का धन बहुत बड़ी मात्रा में ब्रिटेन जाता था। इन सभी साधनों द्वारा भारत का धन जिस प्रकार ब्रिटेन जाता था, उस क्रिया को 'धन का निकास' पुकारा गया है।

विस्तार

अवकाश–प्राप्त ब्रिटिश सैनिक और असैनिक अधिकारी अधिकांशतः ब्रिटेन चले जाते थे। भारत सरकार उन्हें पेंशन प्रदान करती थी। सेवारत–कर्मचारी भी अपने परिवारों और सम्बन्धियों को यहाँ से धन भेजते थे। भारतीय नरेशों द्वारा अंग्रेज अधिकारियों को भेंट–स्वरूप प्रदान की गयी वस्तुएँ और धन भी अधिकांशतः ब्रिटेन जाता था। ब्रिटिश नागरिकों द्वारा भारत की कृषि, उद्योग, यातायात आदि में लगायी गयी पूँजी द्वारा प्राप्त हुआ लाभ भी ब्रिटेन जाता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विवरणों में अनेक ऐसे विवरण प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि कलकत्ता के बन्दरगाह से ही बहुत बड़ी मात्रा में हीरों, मोतियों और अन्य विभिन्न बहुमूल्य पत्थरों का निर्यात किया गया था। यह सभी धन ब्रिटिश नागरिकों ने भारत में रहते हुए प्राप्त किया था जिसे वे स्वदेश भेजते थे। 1758–65 ई. के मध्य के समय में ही ब्रिटिश नागरिकों ने प्रायः 60 लाख पौण्ड की धनराशि ब्रिटेन भेजी थी। इस धन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अर्जित लाभ सम्मिलित न था। यह धन ब्रिटिश नागरिकों द्वारा अपने व्यक्तिगत साधनों द्वारा अर्जित किया गया था। कम्पनी द्वारा अर्जित किया गया लाभ तो, निःसन्देह, इस राशि से कई गुना अधिक होगा।

एक अन्य तरीके से भी भारत के धन का निकास हुआ। कम्पनी ने अपने राज्य–विस्तार के लिये जो धन व्यय किया वह इतना अधिक था कि समय–समय पर उसने ब्रिटेन की सरकार से कर्ज लिया। उस कर्ज को ब्याज–सहित कम्पनी ने ब्रिटेन की सरकार को लौटाया। वह धन भी भारत से ही एकत्रित किया गया। 1857 ई. में यह कर्ज 6 करोड़ 90 लाख पौण्ड था जो कम्पनी को ब्रिटेन की सरकार को देना था। दादाभाई नौरोजी के अनुसार, ''भारत का धन भारत से बाहर जाता था और फिर वही धन भारत को कर्ज के रूप में दिया जाता था जिसके लिए उसे अतिरिक्त धन उस कर्ज और उस कर्ज की ब्याज के चुकाने के लिए जुटाना पड़ता था। यह एक ऐसा दुष्चक्र था जिसे तोड़ना कठिन था।'' इस धन के निकास के कारण भारत में रोजगार तथा आय की सम्भावनाओं पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। आर.सी. दत्त ने एक भारतीय कवि की इस उपमा का उल्लेख किया था जिसमें राजा का अपनी जनता से अधिक कर ग्रहण करता सूरज के पृथ्वी से उस पानी के प्राप्त करने के समान होता है जो वह वर्षा के रूप में पुनः भूमि को देता है परन्तु यहाँ तो सूरज पानी भारत से ग्रहण कर, वर्षा केवल इंग्लैण्ड को ही देता है।

कुछ विद्वानों ने इस धन निकास के सिद्धान्त की कुछ परिकल्पनाओं पर प्रश्न उठाया है। रानाडे ने भारत के आर्थिक पिछड़ेपन के समाजशास्त्रीय कारण बताये थे। भारतीय विद्वानों ने विदेशी पूँजी के दुरूपयोग और कम उपयोग की ओर इंगित किया है। इसी कारणवश साम्राज्यीय प्रशासन ने जानबूझ कर भारत में कम विकास की नीति अपनायी जिससे अधिकाधिक आर्थिक लाभ इंग्लैण्ड को हो सके। दादाभाई नौराजी ने धन के निकास को 'अनिष्ठों का अनिष्ठ' *(Evils of all evils)* कहकर पुकारा है। मॉरिस डी, मॉरिस ने गर्भावधि *(gestation)* सिद्धान्त पर बल दिया है और यह स्पष्ट रूप से कहा है कि इंग्लैण्ड की भूमिका ने एक ''चौकीदार'' का आरक्षण दिया है, एक तर्कसंगत प्रशासन और सामाजिक छत्रछाया दी है जिसके होते अधिक विकास की सम्भावना थी।

इसके अतिरिक्त, भारत के धन का ब्रिटेन जाने का एक अन्य साधन 'व्यापार में लगी हुई पूँजी से प्राप्त लाभ' *(Investment)* का ब्रिटेन भेजना था। जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों पर अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित की तब से उसने भारत में व्यापार हेतु खरीदी जाने वाली वस्तुओं के लिए ब्रिटेन से धन लाना बन्द कर दिया। प्लासी के युद्ध के पश्चात् ही कम्पनी ने बंगाल के नवाबों से भेंटस्वरूप धन प्राप्त करना शुरू कर दिया था। उसी धन से भारत में उन वस्तुओं को खरीदना आरम्भ किया गया जिन्हें कम्पनी निर्यात करके व्यापारिक लाभ अर्जित करती थी। बाद में अपने ऊपर निर्भर करने वाले सभी राजाओं और नवाबों से कम्पनी ने अपनी सैनिक और

राजनीतिक सहायता के बदले में पर्याप्त धन प्राप्त किया और उसे व्यापार में लगाया। इस प्रकार कम्पनी ने भारत के धन को ही व्यापार में लगाया और उसे ब्रिटेन से धन लाने की आवश्यकता न रही। बक्सर के युद्ध (1764 ई.) के पश्चात् जब कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (लगान वसूल करने का अधिकार) प्राप्त कर ली तब उसकी आय भारत में और भी अधिक हो गयी। इन सूबों से लगान के रूप में प्राप्त की गयी धनराशि को भी कम्पनी ने व्यापार में लगाया। बाद में जैसे–जैसे कम्पनी के राज्य का विस्तार होता गया अथवा उसके प्रभाव–क्षेत्र में वृद्धि होती गयी उसने अन्य भारतीय नरेशों और उनसे प्राप्त हुई भूमि से भी इसी प्रकार धन प्राप्त किया और उसे व्यापार में लगाया। इस प्रकार, कम्पनी ने भारत से प्राप्त हुई पूँजी को ही अपने व्यापार में लगाया तथा उससे व्यापारिक लाभ प्राप्त किया और ऐसा करते हुए उसे ब्रिटेन की पूँजी को हाथ लगाने की आवश्यकता नहीं हुई। ऐसी लाभप्रद स्थिति, सम्भवतः, किसी भी व्यापारिक कम्पनी को प्राप्त नहीं हुई होगी। इससे प्रत्येक प्रकार से प्रचुर मात्रा में भारत का धन ब्रिटेन गया।

कम्पनी की भारत से प्राप्त धन को ही अपने व्यापार में लगाये जाने की नीति से भारत को एक अन्य प्रकार से भी आर्थिक हानि हुई। कम्पनी ने विभिन्न तरीकों से भारत में अपनी आय को अधिकाधिक बढ़ाने के प्रयत्न किये जिससे भारतीयों पर आर्थिक भार पड़ा। उस समय लगान कम्पनी की आय का प्रमुख साधन था। कम्पनी ने लगान की दर में निरन्तर वृद्धि की जिसका बोझा भारतीय किसानों पर पड़ा। कम्पनी की आय का एक अन्य प्रमुख साधन भारत में नमक के व्यापार पर उसका एकाधिकार था। कम्पनी ने नमक के मूल्य में निरन्तर वृद्धि की। 1833 ई. में ही बाजार में नमक का मूल्य उसके उत्पादन–मूल्य से 1,200 से 2,000 रूपये तक अधिक था। नमक एक अत्यन्त आवश्यक उपयोग्य वस्तु है। उसके मूल्य में इतनी अधिक वृद्धि भारतीय जन साधारण के लिए, नि–सन्देह, अत्यधिक कष्टपूर्ण थी। 20वीं सदी में महात्मा गाँधी ने इसी कारण अपने सविनय अवज्ञा आदोलन का आरम्भ नमक–कर को तोड़ने से ही किया था। इसी प्रकार, अंग्रेजों ने अन्य साधनों द्वारा भी अपनी आय में अधिकतम वृद्धि की, उससे प्राप्त धनराशि को भारत से क्रय की जाने वाली वस्तुओं पर व्यय किया और उन वस्तुओं को ब्रिटेन ले जाकर अपने उत्पादन का विकास किया या उन्हें विदेशों में बेचकर लाभ अर्जित किया। इससे भारत के आर्थिक साधनों से प्राप्त हुई धनराशि का उपयोग भारतीयों के लिए नहीं हुआ। उसका अधिकांश भाग ब्रिटेन पहुँच गया और ब्रिटेन के आर्थिक हितों की वृद्धि के लिए उसका उपयोग हुआ। दादाभाई नौरोजी के अनुसार 1894–95 ई. के मध्य भारत ने प्रति वर्ष 40 करोड़ रूपये का सामान ब्रिटेन भेजा जिसके बदले से उसे एक पैसे का भी लाभ नहीं हुआ।

इस प्रकार भारत का धन प्रचुर मात्रा में ब्रिटेन जाता रहा जिसका गम्भीर प्रभाव भारतीयों की आर्थिक स्थिति पर पड़ा। भारतीयों की असहनीय निर्धनता का एक बड़ा कारण भारतीय धन का निकास भी रहा।

कार्ल मार्क्स ने भारत में अंग्रेजी विस्तार के तीन चरण माने है (क) 1757 से 1813 का वाणिज्यवादी काल जब राजस्व का अधिशेष भारतीय खरीद पर लगाया जाता था (ख) 1813 से 1858 का काल जब औद्योगिक पूँजी का स्वतंत्र व्यापारियों के माध्यम से अधिकतम शोषण था। इस युग में भारत को अंग्रेजों की औद्योगिक वस्तुओं के बाजार में परिवर्तित किया गया और यहाँ से अध्कि कच्चा माल प्राप्त किया जाने लगा। (ग) तीसरे चरण में 1858 क बाद भारत में वितीय साम्राज्यवाद स्थापित किया गया जब बैंकों, आयत–निर्यात कंपनियों, ऐजेंसी हाउसेज इत्यादि के द्वारा वितीय नियंत्रण स्थापित हुआ। इस प्रकार यदि पहले और दूसरे चरण की तुलना की जाए तो स्पष्ट नजर आता है कि भारत में विदेशी व्यापार का स्वरुप नहीं बदला बल्कि भारी मात्रा में धन का निकास होने लगा जो भारतीयों के लिए गंभीर विषय बन गया।

बंगाल में दीवानी प्राप्त करने के पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापार एकतरफा था– भारत को बेचने के लिए उसके पास कुछ नहीं था जबकि भारतीय वस्तुओं की उसे आवश्यकता थी जिसका व्यापार कंपनी के लिए बहुत ही लाभदायक था। इंग्लैंड की ऊनी उद्योग काफी विकसित था पर भारत में ऊनी कपड़े की माँग न थी। इसलिए भारतीय वस्तुओं की आपूर्ति करने के लिए कंपनी को इंग्लैंड से सोना–चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएँ ***(bullion)*** भारत लानी पड़ती थीं। पहले इन धातुओं को इंग्लैंड के कुल निर्यात का बहुत अधिक हिस्सा था परंतु 1757 के बाद यह तेजी से घटने लगा क्योंकि कंपनी का बंगाल के राजस्व पर नियंत्रण हो गया था। यह निम्नलिखत आँकड़ों से नजर आता है।

ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत (केवल बंगाल) को भेजे गए कुल निर्यात में बुलियन का भाग इस प्रकार घटता गयाः

वर्ष	प्रतिशत
1711–20	80
1721–30	81
1731–40	73
1741–50	74
1751–56	68
1757–65	13

प्लासी की लड़ाई के उपरांत कंपनी द्वारा भारत में लूट का कार्य आरंभ किया गया। क्लाइव ने स्वयं स्वीकार किया था कि द्वैत शासन काल में कंपनी और उसके कर्मचारी कंपनी के भविष्य की ओर बिना ध्यान दिए व्यक्तिगत उपहार लेने के सिवा कुछ नहीं सोचते थे। प्रत्येक नरेश या नवाब की नियुक्ति पर उससे अधिकतम धन भेंट या नजराने के रुप में ऐंठा जाता था। व्यापारिक अधिकारों का खुलेआम दुरुपयोग किया गया। 1765 के बाद कंपनी के कर्मचारी खुलेआम धन इकट्ठा करके उसे नकली हुंडियों के द्वारा यूरोप भेजने लगे। अनेकों फ्रांसीसी, डेनमार्ग के तथा अन्य व्यापारियों को कर्मचारियों द्वारा चोरी–छूपे श्रृण दिया जाता था जिससे वे भारतीय माल खरीद कर यूरोप में बेचते थे और वहाँ कर्मचारियों के खातों में ऋण की अदायगी करते थे। सन् 1785 में सर जॉर्ज कॉर्नवल लेविस *(George Cornwell Lewis)* ने संसद में कहा ''मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि इस धरती पर आज तक कोई भी सभ्य सरकार इतनी भ्रष्ट, इतनी विश्वासघाती और इतनी लुटेरी नहीं पाई गई जितनी 1765 से 1785 के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार थी।'' कंपनी की लूट का संकेत क्लाइव द्वारा कोर्ट ऑफ डाइरेक्टरों के नाम लिखे पत्र से स्पष्ट मिलता है जो 1765 में लिखा गया था। उसने लिखाः ''जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस अधिग्रहण और ... पहले से चले आ रहे कब्जे के द्वारा आगामी वर्षो में मिलने वाला राजस्व 2 करोड़ 50 लाख रुपयों से कम नहीं होगा। भविष्य में इस राशि में कम– से– कम 20 से 30 लाख की वृद्धि होगी। शांति के दिनों में सैनिक और असैनिक व्यय 60 लाख रुपये से अधिक नहीं हो सकता नवाब के भते पहले से ही कम करके 41 लाख रुपये और मुगल सम्राट के नजराने 26 लाख रुपये कर दिए गए है। इस प्रकार कंपनी को 1 करोड़ 22 लाख रुपये अर्थात् 1,65, 900 पौंड स्टर्लिंग का विशुद्ध लाभ बचा रहेगा।''

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के आरंभ होने से भारत और ब्रिटेन का व्यापारिक संतुलन भारत के विपक्ष में होता गया। भारतीय निर्यात की परंपरागत वस्तुओं (सूती और उत्कृष्ट श्रेणी के कपड़े तथा रेशमी वस्त्रों) के स्थान पर कच्ची वस्तुओं और अर्धनिर्मित वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया। भारत में फरबर *(Furber)* के अनुसार कंपनी की वस्तुओं का आयात तेजी से बढ़ने लगा। निर्यात की अपेक्षा भारत में आयात 1789–90 में 11.6 लाख पौंड अधिक था जो 1797–98 में बढ़कर 41.5 लाख पौंड अधिक पहुँच गया। 1797 से 1801 तक का वार्षिक औसत लाभ 28.1 लाख पौंड था। फरबर के अनुसार 1783–84 से 1792–93 तक के बीच धन का निकास सामान्यतः सकल राष्ट्रीय उत्पाद *(Gross National Product)* का 9 प्रतिशत हिस्सा था। इसके बाहर चले जाने से भरतीय अर्थव्यवस्था को कितना नुकसान पहुँचा होगा इसका आसानी से अनुमान नहीं लगाया जा सकता। रमेश चन्द्र दत्त ने आर्थिक निकास पर अपने सुप्रसिद्ध लेख में बताया कि 1793 से 1837 के बीच कंपनी को 3 करोड़ 20 लाख पौंड प्रतिवर्ष का अधिशेष प्राप्त हुआ जो 30 लाख पौंड वार्षिक निकास था। यदि इस लंबी अवधि के निकास का 12 प्रतिशत ब्याज सहित मूल्य आँका जाए तो यह 723,997,917 पौंड बनता है। भारत से धन के निकास की सबसे कुशल और विस्तृत व्याख्या दादा भाई नारोजी द्वारा प्रस्तुत की गई थी।

उपसंहार

के0 एन0 चौधरी ने अपने विभिन्न लेखों में कहा है कि 1830 तक यदि भारत की कुल राष्ट्रीय आय में विदेशी व्यापार की मात्रा देखी जाए तो वह बहुत ही कम थी परंतु उसके बावजूद विदेशी व्यापार ने सरकारी वितीय नीति के द्वारा एक ऐसा असंतुलित तत्व प्रस्तुत किया था जिसके फलस्वरुप चालीस लाख पौंड का कोष प्रति वर्ष बाहर प्रेषित किया जा रहा था। निजी धन का प्रेषण *(Private Remittance)* भी यदि जोड़ा जाए तो यह रकम और भी अधिक हो जाती है। धन निकास की विशेष बात यह थी कि यह पूर्ण रुप से एकतरफा थां इसके साथ कुछ ऐसे विषय भी रखे जा सकते हैं जैसे भाड़ा खर्च *(Freight Charges),* बैंक व बीमा सेवाओं का खर्च यद्यपि इन्हें धन के निकास में शामिल नहीं किया गया। इनके अतिरिक्त सैनिक खर्च भी भारतीय राज्यों के ऊपर भार बने हुए थे। इन सेनाओं का प्रयोग केवल अंग्रेजों के हित में ही किया जा सकता था।

–: संदर्भ :–

1. एस. एच. रूडोल्फ, इन परस्यूएट ऑफ लक्ष्मी : द पोलिटिकल इकोनोमी आफ दि इण्डियन स्टेट, ओरियेन्ट लौंगमेन, बाम्बे, 1987 ।
2. बी.सी. जोशी, एडि., राममोहन राय एण्ड द प्रोसेस ऑफ मोडर्नाइजेशन इन इंडिया, विकास पब्लिकेशन, देलही, 1975 ।
3. सुमित सरकार, पोपुलर मुवमेन्टस एण्ड मिडिल क्लास इन लेट कोलोनियल इन्डिया : परसपेक्टिव एण्ड प्रोबलेम्स ऑफ ए हिस्ट्री फ्रोम बिलोअ, सेन्टर फॉर स्टडीज इन सोशल साइन्स कलकत्ता, 1983 ।